बिगाड़ का डर और ईमान की बात

प्रफुल्ल कोलख्यान

जब दुनिया नई प्राण-वायु की खोज कर रही थी भारत में भी नये स्वप्न जन्म ले रहे थे। राजनीतिक गुलामी का दुख अपने चरम पर पहुँच कर कुहासे की तरह छँट रहा था और आजादी के सूरज के आगमन पूर्व भोर की छिटकी लाली के आगमन की प्रतीक्षा के बीच आनंद का हिमालय भारतीय जन-समुद्र को अपनी मुस्कुराहट से आलोड़ित कर रहा था। राजनीतिक गुलामी से अपने आप को मुक्त कर नये समाज में प्रवेश करने की तैयारी जोरों पर थी। यथार्थ और आदर्श एक दूसरे के पूरक हैं, समर्थक हैं। अर्थ-गिरा, जल-वीचि की तरह उनमें कहियत भिन्न, न-भिन्न का संबंध होता है। यथार्थ हासिल है, तो आदर्श उसका हौसला। यथार्थ उपलब्ध है तो आदर्श उपलब्ध का चिर आकांक्षित स्वप्न। नींद यथार्थ है तो आदर्श उस नींद में जागरण के स्वप्न का मनोरम दृश्य। यथार्थ जागरण है तो आदर्श उस जागरण का सार्थक कर्म। भारत जाग रहा था और सार्थक कर्म की ओर बढ़ने की कोशिश कर रहा था। समाज अपने पुनर्गठन के लिए तत्पर था। नये स्वप्न के संधान और सम्मान में व्यस्त। स्वप्न और संघर्ष के इस परिप्रेक्ष्य में हासिल और हैसला का पाथेय लिये राजनीति में महात्मा गाँधी और आदर्शोन्मुखी यथार्थवाद की संकल्पना के साथ साहित्य में प्रेमचंद का आगमन हुआ।

किसी भी समाज-व्यवस्था के चरित्र और स्वास्थ्य के संकेत उसकी न्याय-प्रणाली की प्रभावशीलता से भी भासित होते हैं। ऐसी न्याय-प्रणाली सिर्फ वैधानिक न्याय से सीमित न हो कर विवेक नि:सृत परम-सामाजिक-शुभ की तलाश से भी जुड़ी होती है। 'पंच परमेश्वर' कहानी में बूढ़ी खाला को इसी न्याय की तलाश थी। अलगू चौधरी से किया गया सवाल, आज के समय का भी केंद्रीय सवाल है कि क्या बिगाड़ के डर से ईमान की बात नहीं कहोगे?

मनुष्य मूलत: सामाजिक प्राणी है या राजनीतिक प्राणी इस प्रश्न के उत्तर दिलचस्प और ज्ञानवर्द्धक हो सकते हैं। लेकिन असल बात यह है कि मनुष्य अपने आप में अनुपम है, अपरिभाषेय है चाहे वह राजनीतिक प्राणी हो या सामाजिक प्राणी। वैसे, मूल बात यह भी है कि वह मूल से चिपका रहनेवाला प्राणी नहीं है। युग-युग धावित यात्री है। उसकी जययात्रा के कई पड़ाव सुखदायी हैं तो कई मोड़ दुखदायी भी कम नहीं हैं। सुख-दुख के मधुर मिलन से मानव जीवन का विकास होता रहा है। अब, अलग बात है कि यह विकास बहुत हद तक एकार्थी ही हो पाया है। दुख परिवार के ही और शब्द हैं कष्ट, पीड़ा, व्यथा, दर्द, वेदना आदि। यद्यपि इनके अपने-अपने

अर्थ हैं जिनका जीवन में अस्तित्व तो है लेकिन जिनका उपयोग धीरे-धीरे हमारे दैनंदिन व्यवहार में कम होता जा रहा है। इसके एक कारण को खुद जीवन के एकार्थी होते चले जाने से जोड़कर भी देखा जा सकता है। आज सिर्फ अभाव ही हमें सालता है। हाल के दिनों में मनुष्य का अभाव-बोध इतना अधिक बढ़ गया है कि सारे दुख-परिवारी अर्थ का एक मात्र कारण वही बन कर रह गया है। यशपाल की कहानी 'दुख' का मर्म बिसार कर दुख परिवार का मुखिया अभाव हो गया है।

मनुष्य के स्व-भाव में ही अ-भाव ने अपना स्थायी मकाम बना लिया है। इस अभाव की लीला भी अपरंपार है। जिसके पास जितना है वह उतना ही अभाव-ग्रस्त भी है। संपन्नता में विपन्नता का कारण यह है कि जो सबके लिए है वही अगर उसके लिए भी है तो उसे वह अपना मानने को मानसिक रूप से तैयार नहीं होता है। जो सार्वजनिक है वह निजी नहीं हो सकता है। और शायद इसीलिए जो निजी है वह सार्वजनिक नहीं हो सकता है। भोग के स्तर पर भले हो जाये बोध के स्तर पर बिल्कुल नहीं। अर्थात पूर्ण वर्चस्व स्व की अनिवार्य शर्त है। अब भला कौन मानेगा कि उसके पास चाँद भी है, सूरज भी। नदियाँ भी हैं, वन और पहाड़ भी। बोध के स्तर पर जन और सर्वजन एक दूसरे के इतने प्रतिकूल कभी नहीं रहे जितने आज हैं या प्रतीत होते हैं। हर किसी को अपना-अपना चाँद चाहिए, बिल्कुल अपना। आज के मनुष्य की आकांक्षा है कि जहाँ तक हो कल्पना का विस्तार वहाँ तक चाहिए एक स्वेच्छाचारी प्रति संसार, साझेदारी की किसी भी आशंका से सदामुक्त। लेने की ही संज्ञा बची हुई रह गई है, देने की इच्छा का नाश हो गया है। अब मुक्तिबोध की तरह किसी की आत्मा चीखती नहीं, कोई आत्मधिक्कार नहीं है कि जीवन क्या जिया? लिया बहुत-बहुत ज्यादा, दिया बहुत-बहुत कम और इस चक्कर में पड़कर मर गया देश और बच गये तुम-हम। जबकि मुक्ति सामूहिक ही हो सकती है। लेकिन सामूहिकता भी आज एक प्रकार की गिरोहबंदी में बदल रही है। आप किसी को रेल में पिटते देखकर सहज ही अनुमान लगा सकते हैं कि वह अकेला है। समूह न्याय सुनिश्चत कर रहा है। इस समूह-न्याय में लप्पड़-झप्पड़ से लेकर मृत्यु-दंड तक का प्रावधान हुआ करता है। कहनेवाले कहते रहे हैं कि भारत में समाज का नहीं समूह का ही अस्तित्व रहा है। समाज शास्त्री इस विमर्श का चाहे जितना संतोषप्रद उत्तर दे लें लेकिन यह सचाई है कि आज भारत के ही नहीं दुनिया के लोग बहुत तेजी से अपने-अपने समाज के समुदाय, समुदाय के समूह और समूह के गिरोह में बदलते जाने से रोक पाने में न सिर्फ अक्षम साबित हो रहे हैं बल्कि उदासीन भी होते चले जा रहे हैं। और गिरोह से बाहर अकेलेपन का ऐसा भयावह संसार है जिसमें किसी प्रकार की प्रीति के लिए कोई गुंजाइश नहीं बची रहती है। हर तरफ से सिर्फ एक ही आवाज आती है मामेकं शरणं व्रज। बचने का एक ही रास्ता बचा है चरण गहो, शरण में रहो। फिर चाहे जो करो, शारणागत के सौ खून माफ हैं। इस जीवन-सूत्र को समझो, गाँठ

बॉध लो और सुख से जीयो, दुख तुम्हारी छाया से भी दूर रहेगा। गिरोह-न्याय ही कल्याणकर है, इससे रार न ठानो। आज गिरोहाध्यक्ष की छवि न्यायपाल की भी बनायी गयी है । जटिल और समय-भक्षी न्याय-प्रक्रिया की तुलना में उसे तुरंत-न्याय करता हुआ दिखलाया जाता है। वह परम न्याय-प्रिय है। इसे अपराधी कहना भगवान को भूत कहने के अपराध सरीखा है । हम बिगाड़ और प्राण के डर से चुप रहते हैं लेकिन उसे किसी से बिगाड़ का डर नहीं है। आज की दुनिया में ईमान की बात यही बची है!

इस सामग्री के उपयोग के लिए लेखक की सहमति अपेक्षित है।
सादर, प्रफुल्ल कोलख्यान